

## ‘सेवा के माध्यम से समाज की राष्ट्रीय पहचान’

[माहेश्वरी प्रगति मण्डल, मुम्बई के स्वर्ण जयंती समारोह के अवसर पर स्वाधीनता दिवस (15 अगस्त, 2007) को माहेश्वरी भवन, अंधेरी मुम्बई में आयोजित परिचर्चा में माननीय न्यायमूर्ति श्री रमेशचन्द्र लाहोटी, पूर्व प्रधान न्यायाधीश, भारत का वक्तव्य]

---

### स्वाधीनता दिवस की वर्ष-ग्रन्थि – शहीदों का पुण्य स्मरण

भारतवर्ष की स्वाधीनता के 60 वर्ष पूर्ण होने पर, आज स्वाधीनता की 61वीं वर्ष ग्रन्थि के अवसर पर आप सबको और आपके माध्यम से स्वाधीन भारत के प्रत्येक नागरिक को हार्दिक बधाई और शुभकामनाएं। इसके साथ ही हमारी स्वाधीनता और राष्ट्रीय अस्मिता के प्रतीक हमारे राष्ट्रीय ध्वज तिरंगे को नमन। और, उन शहीदों का पुण्य स्मरण जिनके त्याग और बलिदान के कारण हम आज स्वाधीन भारत के स्वाधीन नागरिक के रूप में अपना मस्तक गर्वोन्नत कर सकते हैं। स्वाधीनता समारोह के आरोह और अवरोह में हम एक नागरिक के रूप में अपने कर्तव्यों को न भूलें। स्वाधीनता का मूल मंत्र यह है कि हम यह कभी न सोचें कि देश हमारे लिए क्या कर सकता है; प्रश्न जो निरन्तर हमारे समक्ष खड़ा रहे वह यह होना चाहिए कि हम देश के लिए क्या कर सकते हैं? हम 15 अगस्त 1947 को स्वाधीन हुए। आज स्वाधीनता की आयु 60 वर्ष की हो गई है। हमारा संविधान आयु के 57 वर्ष पूर्ण कर चुका है और 58वें वर्ष में चल रहा है। 26 जनवरी, 1950 को हम भारत के लोगों ने स्वयं को एक संविधान दिया जो हमारा ही नहीं बल्कि विश्व का एक बेशकीमती दस्तावेज है। मूल संविधान में नागरिकों के मौलिक अधिकारों की चर्चा है। पर उसमें नागरिकों के मौलिक कर्तव्यों की चर्चा नहीं थी। संविधान निर्माता देशभक्ति और दूर दृष्टि से संपन्न थे। उन्होंने सोचा कि जिन भारतवासियों ने स्वाधीनता के लिए संघर्ष किए, त्याग किए, बलिदान दिए, वे भारतवासी अपने कर्तव्यों को जानते हैं, स्वाधीनता की कीमत पहचानते हैं। किन्तु स्वाधीनता के 26 वर्षों के अनुभव ने यह पाठ पढ़ाया कि स्वाधीन भारत के नागरिकों को उनके मौलिक कर्तव्यों से साक्षात्कार कर यह बताना होगा कि स्वतंत्र देश के नागरिक के नाते उनके कर्तव्य क्या हैं। अस्तु, 1976 में 42वें संशोधन के माध्यम से भारतीय संविधान में अनुच्छेद 51क जोड़ा गया जो 3 जनवरी 1977 से प्रभावशील हुआ। भारत के प्रत्येक नागरिक के लिए पालनीय 10 मौलिक कर्तव्यों का उल्लेख किया गया।

स्वाधीनता के ऐतिहासिक संदर्भ का दुःखद पहलू यह है कि स्वाधीन होते ही हमने उनका विस्मरण प्रारंभ कर दिया जिन्होंने भारतवासियों को स्वाधीनता दिलाई। मेरी जन्मभूमि गुना जिले के मूर्धन्य कवि श्रीकृष्णजी सरल ने क्रांतिकारियों पर शोध किए हैं और उनके जीवन

और कृतित्व पर काव्य और खण्ड काव्य लिखें हैं। एक खंड काव्य के प्रारंभ में एक शहीद के चित्र के नीचे उन्होंने स्वरचित दो पंक्तियां लिखी हैं—

‘जिनकी लाशों पर चलकर आज़ादी आई,  
उनकी याद बहुत जल्दी हमने बिसराई।’

इसी विस्मृति का परिणाम है आज के हालात।

सुप्रसिद्ध संविधान विशेषज्ञ, विधिवेत्ता, वरिष्ठ अधिवक्ता, राजनीति और कूटनीति में एक समय सक्रिय भूमिका निभाने वाले डॉ. लक्ष्मीमल सिंघवी एक श्रेष्ठ हिन्दी साहित्यिक पत्रिका का संपादन करते हैं जिसका नाम है ‘साहित्य अमृत’। अगस्त, 2007 की इस पत्रिका के विशेषांक के सशक्त संपादकीय से एक अंश आपके समक्ष तद्वत पढ़ता हूं। वे कहते हैं— “जब तक भारत और भारत के लोग सच्चाई और ईमानदारी के साथ इस संविधान को सहेज कर सुरक्षित रखेंगे और जब तक हर पीढ़ी इसमें नये स्वप्न, नए संकल्प की शक्ति की Tर्जा संक्रमित करती रहेगी, हमारी आज़ादी के नये अर्थ और नये आयाम पल्लवित कुसमित होते रहेंगे। किन्तु जिस दिन हमारी स्वार्थान्धता, संकीर्णता और पारस्परिक वैमनस्य का विष—दंश हमारे सार्वजनिक सांविधानिक जीवन की मूर्च्छा बन कर हमारी राष्ट्रीय अस्मिता और स्वाभिमान को क्षत—विक्षत कर देगा, उस दिन इस आज़ादी के अर्थ अनर्थ में बदल जाएंगे। हमारी आज़ादी किसी संग्रहालय या इतिहास की तिथि में बंद नहीं है, बल्कि एक जीवन—शैली का नाम है, आन्विक्षिकी है, अर्थशास्त्र है, समाजशास्त्र है, विधि—विधान है, धर्म और संस्कृति है।”

डॉ. शिवमंगल सिंह ‘सुमन’ भी अपने काव्य के माध्यम से मुखर हुए हैं। उन्होंने ‘क्रांतिकारी’ शब्द के स्थान पर ‘बलिदानी’ शब्द का प्रयोग किया है। शहीदों को स्मरण करते हुए वर्तमान भारत के हालात पर उन्होंने विहंगम दृष्टिपात किया है और कदाचित् अश्रुपूर्ण नेत्रों से ये पंक्तियां लिखी हैं,

‘भगत सिंह, अशफाक, लालमोहन, गणेश बलिदानी  
सोच रहे होंगे हम सबकी व्यर्थ गई कुरबानी  
जिस धरती को तन की देकर खाद, खून से सींचा  
अंकुर लेते समय उसी पर, किसने ज़हर उलीचा  
हरी भरी धरती पर ओले गिरे, पड़ गया पाला  
मेरा देश जल रहा कोई नहीं बुझाने वाला’

इस पृष्ठभूमि में आज का विषय बहुत प्रासंगिक है कि कोई भी सामाजिक संगठन राष्ट्रीय विकास में अपनी भूमिका कैसे निबाह सकता है या यह कहिए कि सेवा के माध्यम से कोई समाज कैसे अपनी राष्ट्रीय पहचान बना सकता है? या, संक्षेप में शीर्षक दें तो कह सकते हैं—

‘राष्ट्रीय विकास एवं सामाजिक संगठन-अन्तर्संबंध।’ कुछ चरणों में इस विषय पर परिचर्चा की अपनी यात्रा संपादित करूंगा। सेवा क्या है? सेवा के रूप क्या हैं? समाज किसे कहते हैं? समाज की परिभाषा क्या है? समाज के लक्षण या गुणधर्म क्या हैं? क्या समाज का संगठित होना अनिवार्य है? राष्ट्र क्या है? और, राष्ट्रीय पहचान किसे कहते हैं?

आइए, इन प्रश्नों के उत्तर खोजें।

### समाज सेवा बनाम राष्ट्र सेवा

समाज के आंगन में बैठकर व्यक्ति या समाज के सदस्यों का समूह राष्ट्रहित की चर्चा करे यह व्यक्ति की राष्ट्र के प्रति उत्कृष्ट सेवा की चाह या ललक दर्शाने वाला समाज के धरातल पर पहला कदम है। वही राष्ट्र की सेवा कर सकता है जो अपने देश को मातृभूमि के रूप में देखता है और अपनी जड़ों के माध्यम से उससे जुड़ा रहता है।

स्वामी राम जापान की यात्रा पर गए। वहां एक स्थान पर उन्होंने देखा कि देवदार के वृक्ष गमलों में लगे हुए हैं और बिक्री के लिए प्रदर्शित किए गए हैं। देवदार का वृक्ष 100-200 फीट Tचा होता है। स्वामी राम यह देखकर आश्चर्य चकित हो गए कि छोटे-छोटे गमलों में लगे हुए इन वृक्षों की Tचाई सिर्फ बालिशत या दो बालिशत की है। यह कैसे हुआ? स्वामी राम ने गमले लेकर बैठे माली से इसका कारण जानना चाहा। वह बोला— ‘स्वामीजी, यह जापान की कला है जिस बोनसाई कहते हैं।’ यह कहकर उसने एक गमला उठाया उसे उलट दिया। गमले की तली में गड़ढे थे जिनसे देवदार के वृक्ष की जड़ें झांक रही थीं। कुछ जड़ें बाहर निकल आई थीं। माली ने कैंची उठाकर उन जड़ों को काट दिया और कहा— ‘स्वामीजी, वृक्ष की जड़ जैसे ही बड़ी होती है हम उसे काट देते हैं और इसी कारण यह वृक्ष बौना रह जाता है।’ इस घटना का उल्लेख करते हुए स्वामी राम लिखते हैं कि— ‘जो वृक्ष अपनी जड़ों के माध्यम से अपनी जन्मदात्री भूमि से जुड़ नहीं पाता वह वृक्ष बूढ़ा तो हो सकता है पर बड़ा नहीं हो सकता। वह बौना रह जाता है।’

जो बात वृक्ष पर लागू होती है वही मनुष्य पर भी खरी उतरती है। जिस व्यक्ति का व्यक्तित्व न तो अपनी मातृभूमि से पोषण प्राप्त करता है और न ही उसकी सेवा करने के लिए उससे जुड़ कर खड़ा रहता है वह व्यक्ति आयु के साथ वृद्धावस्था को तो प्राप्त हो सकता है किन्तु बड़प्पन प्राप्त नहीं कर सकता। इसलिए आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी मातृभूमि से जुड़ा रहे। इससे जुड़े रहने के लिए ज़रूरी है— सेवा। मनुष्य के इस चारित्रिक लक्षण को शिक्षण और प्रशिक्षण देने वाली संस्था समाज है।

### सेवा— एक सार्थक क्रिया

सेवा एक क्रिया तो है किन्तु केवल क्रिया कह देने से सेवा के विषद् अर्थ और आयाम का आभास नहीं हो पाता। चाहे धर्म के दृष्टिकोण से देखें, चाहे संस्कृति के दृष्टिकोण से, सेवा यदि व्यक्ति का स्वभाव है, जीवन शैली है, तभी सार्थक है।

मानवजीवन के दो उर्ाश्य अवश्य होते हैं। प्रत्येक व्यक्ति जीवनपर्यंत आनन्द प्राप्त करना चाहता है और जीवन की इह लीला का अंत होने पर मोक्ष प्राप्त करना चाहता है। सेवा जिस व्यक्ति का स्वभाव और जीवन की शैली बन जाता है वह व्यक्ति जब तक जीता है आनन्द से जीता है और मृत्यु के उपरांत मोक्ष को प्राप्त होता है।

ईश्वर ने हमें दो बेशकीमती उपहार दिये हैं। एक उपहार तो वह है जो उसने प्रत्येक व्यक्ति को समान रूप से दिया है। यह ऐसा विचित्र उपहार है कि कोई न तो अधिक पाता है और न कम। जैसे पैमाने से नाप कर सबको बराबर दिया गया हो। कोई भेदभाव नहीं। इस उपहार की विषय वस्तु को न कोई चुरा सकता है, न घटा सकता है और न ही अपनी ओर से कुछ जोड़ कर बढ़ा सकता है यह उपहार है 24 घंटे का समय। न किसी के हिस्से में 23 घंटे 59 मिनट आए हैं और न कोई 24 घंटे 1 मिनट ले सकता है। घट-बढ़ तो नहीं हो सकती किन्तु कौन समय का उपयोग कैसे करता है इस पर निर्भर करता है उस व्यक्ति के समय का मूल्य और समय का उपयोग करने का कौशल। मनुष्य का समय सीमित है। वह चाहे तो उसे निर्माण में लगा सकता है और चाहे तो विध्वंस में। स्वार्थी व्यक्ति सारे समय का उपयोग स्वयं के लिए कर सकता है और चाहे तो पूरे समय या उसका अंश सेवा के माध्यम से परहित या परोपकार में लगा सकता है।

यह पहला उपहार संपूर्ण जगत को है। किन्तु दूसरा उपहार केवल प्राणियों के लिए है। यह उपहार है अनुभूति की क्षमता (faculty of feeling)। इस उपहार का परिष्कृत रूप समस्त प्राणियों में से केवल मनुष्य में देखने को मिलता है। हम जिससे स्नेह करते हैं या जिसके प्रति अपनत्व का भाव रखते हैं उसके दुःख या सुख को भी हम अनुभव करते हैं। उसके दुःख में दुःख और सुख में सुख की प्रतीति हमें होती है। अनुभूति की यह क्षमता स्नेह का सिंचन करती है और अपनों से तादात्म्य स्थापित कराती है। कालान्तर में यही अनुभूति जब परस्परावलंबी हो जाती है तो संगठन का आधार बनती है। प्रगति और उन्नयन सामूहिक होने लगते हैं। उपलब्धियों में सभी भागीदार हो जाते हैं।

यद्यपि सेवा एक मानवीय क्रिया है किन्तु सभी मानवी क्रियाएं सेवा नहीं होतीं। सेवा संवेदनशील मानव की ऐसी क्रिया है जो मनुष्य में प्राणी मात्र के प्रति आत्मीयता अथवा करुणा

के भाव से उत्पन्न होती है। ऐसी क्रिया जिसे सेवा कहा जा सकता है उसके तीन लक्षण हैं:—  
(i) उससे किसी का हित या उपकार होता हो; (ii) उसे करने वाले का अपना कोई स्वार्थ नहीं होता; एवम्, (iii) उसे करने से मानव मात्र के प्रति मनुष्य की आत्मीयता की अनुभूति परिष्कृत होकर आनन्दप्रदायिनी हो जाती है।

सेवा बहुत व्यापक है या किसी भी रूप में हो सकती है। भूखे को भोजन, प्यासे को पानी, निराश्रित को आश्रय, साधनहीन को साधन और स्नेह से वंचित व्यक्ति से दो मीठे बोल, ये सभी सेवा के रूप हैं। सेवा के अवसर हमारे आसपास सहज उपलब्ध रहते हैं। आवश्यक नहीं कि बहुत साधन हों तभी सेवा हो सकती है। सेवा के साधन हों या न हों पर भावना चाहिए।

एक नगर में एक संत का आगमन हुआ। वे श्रीमद्भागवत की कथा कह रहे थे और मानवमात्र के कल्याण के लिए प्रवचन कर रहे थे। उसी शहर में संयोग से एक व्यापारी का आगमन हुआ। उसकी भी इच्छा हुई कि वह प्रातःकाल के खाली समय का उपयोग कथा का रसपान करने के लिए करे। वह आयोजन स्थल की ओर तेज कदमों से बढ़ा ही था कि उसकी चप्पल टूट गई। आसपास देखा। सड़क किनारे एक मोची बैठा हुआ जूते बना रहा था। व्यापारी उसके पास पहुंचा और कहा कि वह अपने हाथ का काम छोड़कर पहिले उसकी चप्पल बना दे क्योंकि उसे कथा सुनने जाना है। मोची ने हाथ का काम छोड़ दिया और चप्पल में टांके लगाकर सुधार दी और व्यापारी को पहना दी। व्यापारी ने मोची को दो रुपये देने चाहे किन्तु मोची ने लेने से इंकार कर दिया। व्यापारी ने कारण जानना चाहा। मोची प्रेमपूर्वक बोला— 'आप हमारे शहर के अतिथि हैं। दूसरे शहर से हमारे अतिथि—संत की कथा सुनने आए हैं। मैं गरीब आदमी हूं। कथा का आयोजन तो मैं कर ही नहीं सकता। मेहनत मजदूरी करके अपना जीवन यापन करता हूं, इसलिए काम छोड़कर कथा सुनने भी नहीं जा सकता। आप कथा सुनने जा रहे हैं। मेरे द्वारा मरम्मत की हुई चप्पल के कारण शीघ्र कथा स्थल पर पहुंच जाएंगे और कथा का वह अंश भी सुन सकेंगे जो अन्यथा आप सुनने से वंचित रह जाते तो मुझे लगेगा कि आपके साथ मैं भी कथा सुनने में शामिल हूं।' इतना कहकर मोची ने उस व्यापारी को हाथ जोड़कर नमस्कार किया और जैसे ही वह व्यापारी मुड़कर जाने लगा उस मोची ने पुनः कहा— 'और हां, आप वह दो रुपये भी पोथी पर चढ़ा दीजिए तो मैं समझूंगा कि मुझे भी संत की सेवा करने का अवसर मिला है।'।

मेरे एक मित्र हैं। उनका वर्षों से यह क्रम है कि वे प्रतिदिन प्रातःकाल अस्पताल में रोगियों के जनरल वार्ड में जाते हैं और प्रत्येक रोगी को एक गुलाब का फूल देकर उससे कुशलक्षेम पूछते हैं। रोगी कितने ही कष्ट में क्यों न हों, क्षण भर को वह अपने कष्ट भूल जाता है, उसके चेहरे पर मुस्कान खेल जाती है। जिस रोगी के साथ कोई अपना परिचारक नहीं है उसे

तो इतनी प्रसन्नता होती है कि जैसे कोई उसका अपना मिल गया हो। यदि कोई रोगी अपनी बात ठीक से नहीं कह पाता या उसे डॉक्टर से बातचीत करने में संकोच होता है तो ऐसे रोगी की पूरी बात सुन समझ कर वे डॉक्टर तक पहुंचाते हैं और इस प्रकार रोगी के उपचार में सहायक होते हैं। लगभग एक से दो घंटे का समय वे इस प्रकार व्यतीत करते हैं और असंख्य रोगियों का मौन आशीष अपने लिये अर्जित करते हैं।

एक सज्जन को विचित्र शौक है। वे बच्चों की पत्रिकाओं और अखबारों से कार्टून एकत्रित करते हैं और उनकी एलबम तैयार करते हैं। वे अस्पताल में बाल रोगियों के कक्ष में जाते हैं और कभी अनाथालय में। बच्चों को एलबम से कार्टून दिखाते हैं जिन्हें देखकर बच्चे खिलखिलाकर हंसने लगते हैं। वे सज्जन भी बच्चों के साथ हंसते हैं और कुछ समय उनके साथ बिताकर लौट आते हैं। अनेक रोगी अथवा परित्यक्त अथवा एकाकी जीवन जी रहे सुकोमल बालकों के जीवन में प्रसन्नता के अनेक क्षण उन्होंने वितरित किए हैं। मैं कहूंगा कि सिर्फ वितरित ही नहीं, विनियोजित किए हैं। इस सेवा का मूल्य वही समझ सकता है जिसने ऐसे बच्चों के मासूम चेहरों पर मुस्कान उतरते हुए देखी है।

ये सभी सेवा के रूप हैं।

आज कुछ विकलांग बंधु-बहनों को कृत्रिम अंग दिए गए। इस स्वर्ण जयंती समारोह के आयोजनों की श्रृंखला में वैसे तो यह आयोजन बहुत बड़े स्तर पर हुआ है परन्तु प्रतीक रूप में एक झलक यहां भी प्रस्तुत की गई ताकि हम सभी को प्रेरणा मिल सके। श्री अरुणजी बजाज जो 'बनवासी मित्र परिषद्' (Friends of the Tribals Society) से सक्रिय रूप से जुड़े हुए हैं और जो इस सेवा प्रकल्प के प्रमुख सूत्रधार हैं वे भी आज हमारे बीच उपस्थित हैं। उनका संक्षिप्त प्रेरक उद्बोधन हमने सुना साथ ही वे बंधु और बहनें जो किसी जन्मजात विकलांगता से पीड़ित थे या किसी दुर्घटना के कारण शरीर के किसी उपयोगी अंग से वंचित हो चुके थे और जिन्हें कृत्रिम अंग मिल गए हैं उनकी भावाभिव्यक्ति के एक-एक दो-दो शब्द भी प्रत्येक से हमने सुने। समाज के बंधुओं के सहयोग से उनकी एक न्यूनता दूर हुई है। माहेश्वरी प्रगति मण्डल द्वारा आयोजित इस स्वर्ण महोत्सव के 'लोगो' (प्रतीक-चिन्ह) में तीन शब्द इस महोत्सव के आधार सूत्र के रूप में लिखे हैं— 'समन्वय, सद्भाव, सहयोग।' जिन सात विकलांग बन्धु-बहनों ने अपने विचार व्यक्त किए उनकी पृथक-पृथक अभिव्यक्ति का निचोड़ सिर्फ इतना है कि वे किसी चुनौती से हार नहीं मानेंगे। दुर्घटना ने उनके हाथ या पैर छीन लिए या दुर्भाग्य ने उन्हें कोई शारीरिक न्यूनता दे दी पर वे संघर्ष करेंगे। प्रकृति जब कुपित होती है तो अपने कोप की अभिव्यक्ति कभी-कभी विकृति के रूप में करती है किन्तु समाज के

समन्वय, सद्भाव और सहयोग के माध्यम से प्रकृति प्रदत्त विकृति के प्रभाव को न्यून किया जा सकता है। श्री अरुणजी बजाज गोहाटी से हैं। जो बन्धु और बहन हमारे सामने खड़े थे वे भिन्न-भिन्न जाति, समुदाय और स्थानों के लोग हैं। गोहाटी, दिल्ली, मुम्बई से लेकर कर्नाटक तक के। वे एक संदेश आज स्वाधीनता दिवस की पृष्ठभूमि में दे गए कि वे सब स्थान जहां-जहां से वे संबंध रखते हैं वही नहीं, बल्कि कश्मीर से कन्याकुमारी तक भारत एक है। हम सब एक मातृभूमि की संतान हैं। हमारे दुःख-सुख की अनुभूति एक दूसरे को होती है। हम सभी एक दूसरे के दुःख सुख में सहभागी हैं, होना भी चाहिए। यह स्वाधीन मातृभूमि की सेवा का लक्षण है।

### सेवा धर्म— सेवा का आध्यात्मिक पक्ष

सेवा धर्म भी है। रामचरितमानस में गोस्वामी तुलसीदासजी ने लिखा है —‘*परहित सरिस धर्म नहिं भाई। नहिं पर पीड़ा सम अधमाई।।*’ संसार में सभी धर्म ‘*वसुधैव कुटुम्बकम्*’ के सूत्र को किसी न किसी रूप में प्रतिपादित करते हैं। हिन्दू धर्म पुनर्जन्म में विश्वास रखता है। बारम्बार जन्म लेने वाले प्राणी के प्रत्येक जन्म में भिन्न-भिन्न व्यक्तियों से भिन्न-भिन्न प्रकार के संबंध होते हैं। व्यापक और विषद् अर्थ में लिया जाए तो, आचार्य महाप्रज्ञ करते हैं कि, इस जन्म में तुम्हारा एक कुटुम्ब है, परिवार है जो प्रत्यक्ष दिख रहा है। किन्तु अतीत में जाएं तो इसका अर्थ होगा कि इस जगत में जो भी प्राणी है वह कभी न कभी तुम्हारे कुटुम्ब या परिवार का सदस्य रहा होगा। दूसरे शब्दों में सभी प्राणी अनेक बार अथवा कभी न कभी तुम्हारे माता, पिता, भाई, बहन या अन्य संबंधी रह चुके हैं। इसलिए यह सारा जगत एक कुटुम्ब होगा। यहां कोई पराया नहीं है। यह मैत्री का विराट दर्शन है। जो व्यक्ति केवल अपने निकट संबंधियों को ही अपने परिवार का सदस्य मानता है तो परिवार की संख्या सीमा 10-20 व्यक्तियों तक रूक जाती है। व्यक्ति अपने परिवार के सदस्यों के प्रति तो न्याय करता है किन्तु अन्य किसी के प्रति अन्याय करने में उसे कोई संकोच नहीं होता। आचार्य महाप्रज्ञ के गहरे अर्थ में जब मानवमात्र प्रत्येक मानव का संबंधी है या रह चुका है या होगा तब विद्वेष का भाव किसके साथ होगा? इस अर्थ में मानवमात्र के प्रति की गई सेवा का कार्य हमारे अपनों की सेवा है। वही कर्म संपूर्ण है और अपने आराध्य के प्रति समर्पण के योग्य है जिसके परिणाम की चिन्ता न हो और कर्ता का कोई स्वार्थ न हो। उनके अनुसार ऐसे धर्म निरर्थक और सामाजिक रूप से अप्रासंगिक हैं जो निष्काम सेवा को प्रोत्साहित नहीं करते। मनुष्य परमेश्वर की सर्वोत्तम कृति है। एक कृति दूसरे कृति की सेवा करे और परिणाम सृजनकर्ता को समर्पित कर दे, यह मनुष्य का उसे बनाने वाले के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करने का सर्वोत्तम उपाय है।

एक सूफी संत इबादत (प्रार्थना) में बैठते थे परन्तु कभी माला नहीं फेरते थे। एक दूसरे संत उनसे भेंट करने आए और पूछा कि आप ध्यान में तो बैठते हैं, भजन भी करते हैं पर आपके हाथ में माल तो नहीं होती है? माला फेरे बिना आपका जप कैसे पूरा होता है? उस सूफीसंत ने उत्तर दिया भाई— मेरा तो भाव ही कुछ और है, और प्रार्थना की पद्धति भी कुछ और है। चर्चा करते हुए वे ध्यानस्थ हो गए और अपने आराध्य का स्मरण करते हुए बोले—

‘जहां में जितने इंसां हैं तेरी माला के मनके हैं,

नज़र में फिरते जाते हैं इबादत होती जाती है।’

प्रश्न तो अतिथि संत ने पूछा था किन्तु उत्तर उस सूफी संत ने अपने आराध्य को संबोधित करते हुए दिया कि हे प्रभु, इस संसार में तेरे बनाए हुए जितने भी इंसान हैं वे सभी तेरी ही माल के मोती (मनके) हैं। जैसे—जैसे ये इंसान मेरी नज़र के आगे घूमते जाते हैं वैसे—वैसे तेरे नाम की माल फिरती जाती है।

प्रत्येक मनुष्य चाहता है कि उसे मोक्ष प्राप्त हो। मोक्ष की परिभाषा कठिन है किन्तु भारतीय दर्शन के अनुसार आत्मा का परिष्कृत होकर परमात्मा से मिलन मोक्ष है। सेवा से मनुष्य न केवल मानसिक और शारीरिक रूप से समृद्ध और परिष्कृत होता है बल्कि सेवा उस मनुष्य जीवन के चरम लक्ष्य की प्राप्ति में भी सहायक होती है। स्वामी विवेकानंद के अनुसार— 'Serving man knowing him to be manifestation of God purifies the heart' सेवा परमात्मा से निकटता प्राप्त करने का एक साधन है। गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है कि अपने कर्म को भगवान से युक्त होकर करो अर्थात् अपना कर्म परमात्मा को निमित्त बनाकर उसे भगवान से युक्त कर दो। सदैव यह प्रश्न पूछो कि मेरे इस कर्म से भगवान प्रसन्न होंगे क्या? इस प्रश्न का उत्तर सेवा रूपी कर्म के संदर्भ में सकारात्मक होगा। बाइबिल कहती है— 'Every living creature is child of God- His son's service is service of God'

सेवा से परिष्कृत होकर सेवाभावी मनुष्य ऐसी समदृष्टि प्राप्त कर लेता है कि मनुष्य और मनुष्य में भेद समाप्त हो जाता है। अकबर महान के दरबार में उनके नवरत्नों में अबुल फज़ल भी थे। वह बिना किसी भेदभाव के सबको उदारता से दान देते थे। एक बार उनका एक मित्र उनसे बोला, 'आप मुसलमानों को दान देते हैं, यह बात तो समझ आती है, लेकिन आप हिन्दुओं को क्यों दान देते हैं? हमारे धर्म में साफ कहा गया है कि ग़ैर मुस्लिमों को दान देने से पुण्य नहीं होता।'।

अबुल फज़ल अपने मित्र की बात सुनकर बोले, 'मैंने ऐसा सुना है कि मुसलमानों को दान देने से फरिश्ते जन्नत में हमारे रहने के लिए महल तैयार करते हैं और ग़ैर मुस्लिमों को दान करने



से दोज़ख में कोठरी मिलती है। मुझे नहीं मालूम कि मरने के बाद मुझे जन्नत नसीब होगी या दोज़ख, सो मैं दोनों ही स्थानों के लिए व्यवस्था कर रहा हूँ ताकि कहीं भी जाऊँ मुझे जगह मिल जाए।’

हमारे पौराणिक साहित्य में पुण्डलीक की कथा आती है। ऋषि के आश्रम में उसे यज्ञभूमि की सेवा का कार्य सौंपा गया। एक दिन पुण्डलीक ने देखा कि तीन स्त्रियां यज्ञभूमि में आईं। वे अत्यंत रूपवान थीं। उनके नाक नक्श तीखे थे किन्तु उनका शरीर मलिन और रंग काला हो रहा था। वे भी यज्ञभूमि की सेवा करने लगीं। तीन दिन के उपरान्त पुण्डलीक ने उन्हीं तीन स्त्रियों को वापिस जाते हुए देख परन्तु अब वे गौरवर्ण थीं और उनका रूप और ओज अत्यंत आकर्षक था। पुण्डलीक उनके पास आया, प्रणाम किया और पूछा— देवियों, आप कौन हैं? मैंने तीन दिन पहले आपको यहां आते हुए भी देखा था तब आप जैसी थीं और आज जैसी हैं इसमें अन्तर का रहस्य मुझे समझ नहीं आ रहा। क्या कृपा कर आप मुझे यह रहस्य समझाएंगी? वे स्त्रियां बोलीं— ‘हम गंगा, यमुना और सरस्वती हैं। सांसारिक प्राणी अनेक पापकर्म करते हैं और अपने कलुष धोने के लिए हमारे जल में स्नान करते हैं। उनका कलुष धोते-धोते हम मलिन हो जाती हैं। इसी कारण समय-समय पर हम ऋषि के आश्रम में यज्ञभूमि की सेवा करने के लिए आती हैं जिससे हमारा संचित कलुष नष्ट हो जाता है और हम अपने पूर्व रूप में आ जाती हैं।’ यह सेवा का परिणाम है।

यज्ञभूमि और मातृभूमि की सेवा में कोई अन्तर नहीं है। मातृभूमि की सेवा करके हम अपने कलुष नष्ट कर सकते हैं और अपना व्यक्तित्व संवार सकते हैं।

### सेवा का सांसारिक लाभ

यह तो हुआ सेवा का धार्मिक अथवा आध्यात्मिक संदर्भ। सांसारिक रीति से यदि देखा जाए तो सेवा व्यक्तित्व को संवारती है और सेवा करने वाले का आत्मविश्वास जाग्रत होता है। सुप्रसिद्ध विचारक और लेखक John Andrews Homes ने लिखा है कि 'There is no better exercise for the heart than reaching down and lifting somebody up'। भारत विकास परिषद् की पत्रिका 'नीति' के अगस्त 2007 के अंक में एक सूक्ति उद्धृत है— When you help other, you help yourself as well. रामचरितमानस में भी गोस्वामीजी ने कहा है— ‘परहित बस जिन्ह के मन माहिं। तिन्ह कहुं जग दुर्लभ कछु नाहिं।।’

जो सेवा के भाव से अपना कर्म करते हैं उनके लिए संसार में कुछ भी पाना कठिन नहीं है। 'नीति' में अमेरिका में हुए एक प्रयोग का परिणाम उल्लिखित है। 20 स्वयंसेवी संस्थाओं के

3000 स्वयंसेवकों पर यह प्रयोग किया गया। परीक्षण से पाया गया कि 95 प्रतिशत स्वयंसेवकों में ज़रूरतों की मदद और सेवा के स्वैच्छिक कार्य करने के उपरान्त आनन्द और उत्साह का जबरदस्त विस्फोट हुआ और जब वे ऐसे कार्य निरन्तर करते रहते हैं तो उनके जीवन में शान्ति और स्थिरता प्रवाहित होने लगती है। निष्कर्ष इस तरह अंकित किया गया— 'Helping other people produces a health-producing euphoria that can keep you feeling young and alive at any age. This helping returns your energy ten fold.'

### सेवा का अभिमान न हो

सेवा तो करें पर सेवा करने का अभिमान न हो। वह सेवा सर्वाधिक सशक्त और श्रेष्ठ है जो अप्रकट रहे या गुप्त रूप से की जाए। सेवा का उल्लेख करने से उसका प्रभाव नष्ट हो जाता है। सेवा करने वाला अपनी सेवा की प्रशस्ति कराने से परहेज़ करे तभी सेवा सार्थक है अन्यथा सेवा भी स्वार्थ है। रामायण का एक प्रसंग बहुत मार्मिक है। केवट प्रसंग से आप सब परिचित हैं। भगवान राम, सीता और लक्ष्मण को केवट ने नाव में बैठाकर नदी के पार उतारा। भगवान राम को संकोच था कि केवट ने हमारे लिए श्रम तो किया किन्तु मैंने उसे उसके श्रम का मूल्य कुछ भी नहीं दिया। विवशता यह थी कि राम तो सन्यासी होकर वन को गए थे। उन्होंने जटाजूट और वल्कल वस्त्र धारण किए हुए थे। उनके पास देने के लिए कुछ था ही नहीं। उनकी मनःस्थिति का अनुमान सीताजी ने लगा लिया। उन्होंने अपनी अंगुली से अंगूठी उतारी। अंगूठी रत्नजड़ित थी। भगवान राम ने यह अंगूठी केवट को दे दी। एक संत तुलसी की राम-कथा कहते हुए यह प्रसंग सुना रहे थे। उन्होंने कथा के प्रारंभ में कहा था कि ऐसा कहा जाता है कि तुलसीदासजी ने भगवान राम का संपूर्ण चरित्र स्वयं देखा है और जो देखा है सो लिखा है। एक जिज्ञासु श्रोता ने शंका उत्पन्न की कि तुलसीदासजी ने या तो पूरा दृश्य नहीं देखा और यदि देखा तो पूरा नहीं लिखा। श्रोता ने कहा कि तुलसीदासजी ने अंगूठी देख ली और यह भी देखा लिया कि अंगूठी में रत्न लगे हैं जिसे सीताजी ने अपनी अंगुली से उतारा। परंतु आगे तुलसीदासजी ने यह नहीं लिखा कि सीताजी ने यह अंगूठी भगवान राम के हाथ में दी। ऐसा क्यों?

कुछ श्रोता विलक्षण होते हैं उनकी जिज्ञासाएं भी विलक्षण होती हैं। कथावाचक संत ने श्रोता का साधुवाद किया और इतनी गहराई से मानस पढ़ने और कथा सुनने के लिए उस श्रोता की प्रशंसा की और तब समाधान करते हुए कहा कि सीताजी ने भगवान राम के हाथ में अंगूठी कब और कैसे दी यह तुलसीदासजी भी नहीं देख पाए। सीताजी ने दी ही इस प्रकार कि कोई देख न पाए। सारांश यह है कि दान और सेवा की महत्ता तभी है जबकि एक हाथ दे और दूसरे हाथ को पता भी न चले कि पहले हाथ ने क्या दिया और किसे दिया। स्वामी

राजेशानन्दजी कहते हैं कि सेवा का कर्म भगवान को समर्पित करके किया जाए तो सेवा भी भक्ति है। किन्तु सेवा की प्रशस्ति की चाह अभिमान का जनक है। अस्तु सेवा के द्वारा भगवान की भक्ति तो हो किन्तु अभिमान की अभिव्यक्ति न हो।

### समाज की भूमिका और महत्ता

समाज की राष्ट्रीय पहचान कैसे बन सकती है? प्रत्येक व्यक्ति किसी परिवार का सदस्य होता है। व्यक्तियों से मिलकर परिवार बनता है। व्यक्ति और परिवार मिलकर समाज की रचना करते हैं और अनेक व्यक्ति, परिवार और समाज या उनके हित समूह एकीकृत होकर राष्ट्र का रूप ले लेते हैं। इसलिए एक समृद्ध और सशक्त राष्ट्र के लिए उस राष्ट्र के घटक समृद्ध और सशक्त होने चाहिए। समृद्ध और सशक्त समाज के लिए समृद्ध और सशक्त परिवार चाहिए। वही परिवार समृद्ध और सशक्त हो सकता है जिसका प्रत्येक सदस्य अर्थात् व्यक्ति एक समृद्ध और सशक्त व्यक्तित्व का धनी हो।

समाज के निर्माण में परिवार की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। विशेषकर परिवार के मुखिया का यह कर्तव्य ही नहीं अपितु उत्तरदायित्व भी है कि वह संतान अथवा परिवार के सदस्यों को जीवन मूल्यों से परिचित कराए और उन्हें ये मूल्य प्रदान भी करे। संतान को विधि और निषेध— क्या करणीय है और क्या अकरणीय है— इसकी शिक्षा देकर उन्हें इनसे परिचित कराए। समाज में परिवार की यह भूमिका संतान का समाजीकरण करने की प्रक्रिया है। अपनी संतान को संस्कारवान बनाने और उसके व्यक्तित्व को इन सद्गुणों और क्षमताओं से विभूषित कर समृद्ध और सशक्त बना देना कि वह न केवल पैरों पर खड़ा हो सके, आत्मनिर्भर हो सके बल्कि एक श्रेष्ठ समाज की रचना में अपना योगदान दे सके, यह प्रक्रिया प्रत्येक माता—पिता का कर्तव्य है।

जो भूमिका एक परिवार की अपनी संतानों के समाजीकरण करने में होती है वही भूमिका एक समाज की अपने सदस्य व्यक्तियों के राष्ट्रीयकरण करने में होनी चाहिए। प्रत्येक समाज संगठन से यह अपेक्षित है कि अपने सदस्य परिवार और व्यक्तियों को राष्ट्र की सेवा के लिए प्रशिक्षित, सक्षम और संकल्पित बनाकर राष्ट्र निर्माण हेतु उन्हें समर्पित कर दे।

राष्ट्र की सबसे छोटी किन्तु सबसे महत्वपूर्ण इकाई व्यक्ति है। अकेले व्यक्ति की क्षमता सीमित होती है, अकेले परिवार की भी; किन्तु समाज पर यह बात लागू नहीं होती। समाज के धरातल पर जब व्यक्ति और परिवार एकत्रित होकर संगठित होते हैं तो वे एक और एक मिलकर दो नहीं ग्यारह होते हैं, और ग्यारह और ग्यारह मिलकर बाईस नहीं एक सौ इक्कीस होते हैं। संगठन में शक्ति है।

## समाज—संगठन

सुसंगठित समाज क्या है? स्वामी विवेकानंद ने एक स्थान पर संगठन को परिभाषित करते हुए सफल संगठन के लिए तीन अनिवार्य तत्व बताए हैं (i) समान आचार—विचार वाले लोग (ii) जिनकी परम्पराएं और सांस्कृतिक मान्यताएं समान हैं, वे (iii) समान ध्येय की पूर्ति के लिए जब एकत्रित होते हैं तब संगठन में शक्ति होती है। इस शक्ति का श्रोत लक्ष्य के प्रति उनका समर्पण होता है। जब उक्त तीनों लक्षण उपस्थित हों तभी संगठन वास्तविक होता है।

संगठन की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि संगठन का प्रत्येक सदस्य सक्रिय हो और संगठन की सफलता में अपना योगदान देना एक अनिवार्य उत्तरदायित्व के रूप में स्वीकार करे और उसका निर्वहन करे। आप सभी ने वह कहानी पढ़ी या सुनी होगी कि एक राजा अपने राज्य में दूध का तालाब बनवाना चाहता था। गऊ खुद गया। प्रत्येक नागरिक को आदेशित किया गया कि रात को उस गऊ में एक लोटा दूध डालकर आए। एक व्यक्ति ने सोचा कि सभी दूध डालेंगे, मैंने यदि एक लोटा दूध के स्थान पर पानी भी डाल दिया तो क्या अंतर पड़ता है? उस एक व्यक्ति की दूषित अथवा अनुत्तरदायित्वपूर्ण सोच का परिणाम यह हुआ कि प्रातःकाल जब राजा तालाब देखने गया तो उस तालाब में दूध के स्थान पर पानी हिलोरे मार रहा था।

एक जंजीर का अपना कोई अस्तित्व नहीं है। वह अनेक कड़ियों से मिलकर बनी होती है। यदि जंजीर में एक कड़ी भी कमजोर हो तो जंजीर मजबूत नहीं कही जा सकती। एक नाव में अनेक यात्री सवार होते हैं। प्रत्येक यात्री यदि पतवार संभाल ले तो यह नाव धारा की विपरीत दिशा में भी दौड़ सकती है और नदी पार कर सकती है। किन्तु यदि नाव में सवार यात्रियों में से कुछ नाव में छेद करते रहें और कुछ पानी उलीचते रहें तो नाव में सवार समूह का उत्साह और शक्ति केवल छेद करने और पानी उलीचने में समाप्त हो जाएंगे। यात्रा का निर्धारित समय व्यतीत हो जाने पर भी वह नाव वहीं की वहीं खड़ी रहेगी। जहां से चली थी। व्यक्ति का समय और शक्ति सीमित होते हैं। उसका उपयोग निर्माण में भी किया जा सकता है और विध्वंस में भी। संगठन के सदस्य जिस प्रकार अपनी शक्ति का प्रयोग करेंगे उसी प्रकार के परिणाम दृष्टिगोचर होंगे। सामाजिक संगठन और उसके सदस्यों की एक दूसरे के संदर्भ में यही महत्ता है।

संगठन में सबसे बड़ी बाधा है अहम् का भाव (Ego)। कौन छोटा है, कौन बड़ा है— ये प्रश्न संगठन को बनाने और बन भी जाए तो उसके स्थायित्व में सबसे बड़ी बाधा होते हैं। अहम् से मुक्ति पाना सरल है, बस भाव चाहिए। स्वामी रामकृष्ण परमहंस के दो शिष्यों में विवाद हो

गया कि उनमें से कौन बड़ा है। प्रत्येक अपने को दूसरे से बड़ा समझता था। होते-होते यह विवाद स्वामी रामकृष्ण परमहंस के पास पहुंचा। उन्होंने दोनों को बुलाकर पास बिठाया और पूछा— यह बताओ कि बड़ा किसे कहते हैं? दोनों मौन रहे। रामकृष्ण बोले— “वत्स, जो दूसरे को अपने से बड़ा माने वही बड़ा है।” समाधान हो गया। दोनों शिष्य नतमस्तक होकर शांत हो गए। उनमें फिर कभी विवाद नहीं हुआ।

### समाज— संगठन की राष्ट्रीय पहचान— सेवा का माध्यम

कोई भी सामाजिक संगठन राष्ट्र के स्तर पर अपनी पहचान कैसे बनाए? इस प्रश्न का उत्तर खोजते हुए राजनीति से परे रहा जाए तो अच्छा है। राष्ट्र के स्तर पर पहचान बनाने का सर्वोत्तम उपाय सेवा का मार्ग है। सेवा के प्रकल्प तीन प्रकार के साधनों के संयोजन से हो सकते हैं। सुविधा और साधनों के आधार पर सेवा प्रकल्पों का तीन वर्गों में विभाजन हो सकता है: (i) आर्थिक साधनों पर आधारित प्रकल्प; (ii) स्व-कर्म पर आधारित प्रकल्प, एवम् (iii) ज्ञान पर आधारित प्रकल्प। तीनों वर्गनाम संकेत देते हैं कि वे क्या हैं। अर्थ संग्रह करके कई काम किए जा सकते हैं। ऐसी सेवा के काम भी हो सकते हैं जो संगठन के सदस्य एकत्रित होकर स्वयं कर सकते हैं जिनके लिए आर्थिक साधनों की व्यवस्था गौण हो जाती है। आज का विश्व ज्ञान आधारित समाज (knowledge based society) है। अर्थ व्यवस्था हो या न हो, जन समूह या कार्यकर्ता एकत्रित हों या न हों, एक व्यक्ति भी ज्ञान के दान अथवा प्रसार से सेवा कर सकता है। अधिकांश संस्था या संगठन जो समाज सेवा का कार्य करते हैं उनकी सेवाएं इन तीन प्रकारों में विभक्त की जा सकती है। आप सब भी व्यक्तिगत रूप से कोई न कोई सेवा का कार्य करते रहते हैं और किसी न किसी सेवा संस्था से जुड़े हुए हैं। इसलिए इस विषय को अधिक विस्तार देना अनावश्यक है। एक अन्य महत्वपूर्ण विषय है जिसकी ओर मैं यहां उपस्थित सभी के माध्यम से समाज का ध्यान आकर्षित करना चाहता हूं।

आज देश के प्रत्येक नागरिक का सबसे महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व संस्कृति का सृजन और रक्षण है। तीन प्रकार के संकट (Crisis) हमारे Tपर मंडरा रहे हैं (i) Crisis of Corruption; (ii) Crisis of Character, and (iii) Crisis of Credibility- (i) आचरण का संकट; (ii) सत्चरित्रता अथवा चारित्रिक दृढ़ता का संकट एवं (iii) विश्वसनीयता का संकट। सर्वत्र भ्रष्टाचार और अनाचरण का बोलबाला है। भ्रष्टाचार को सामान्य व्यक्ति ने जीवन पद्धति का एक हिस्सा स्वीकार कर लिया है। किसी भी दिन का समाचार पत्र उठाकर देख लें। मुख पृष्ठ और समाचार पत्र के अंदर भी जो सामग्री छपी होती है वह जिन घटनाओं से जुड़ी होती है वे चारित्रिक गिरावट के कारण घट रही होती हैं। स्वार्थान्धता के कारण परस्पर विश्वसनीयता में गंभीर गिरावट आई है। ये सभी प्रश्न ऐसे हैं जो हम सबके सामने चुनौतियां बनकर खड़े हैं।

न तो कोई समाधान दृष्टिगोचर होता है और न ही कोई ऐसा नेतृत्व नज़र आता है जो समाधान की दिशा में हमें ले जा सके। जिस समाज के मंच से आज मैं अपने विचार व्यक्त कर रहा हूँ उसके सामने यह सबसे बड़ी चुनौती है। यदि यह समाज भारतीय संस्कृति और इससे सम्मत सामाजिक और महत्वपूर्ण मूल्यों की स्थापना के लिए स्वयं को समर्पित कर सकता है तो यह राष्ट्र की महती सेवा होगी और यह समाज राष्ट्र के स्तर पर सहज ही अपनी पहचान बना सकता है।

सुमित्रानंदन पंतजी की दो पंक्तियां बहुत प्रासंगिक हैं—

‘प्रखर बुद्धि से भले सभ्यता हो नव—निर्मित

संस्कृति के सृजन हेतु, बस ईंदय चाहिए’

इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रेरणा मिलती है हमारे शहीदों, क्रांतिकारियों और बलिदानियों के जीवन से। वह कौन सी शक्ति थी जिसने अपनी मातृभूमि को विदेशी आक्रांतों के चंगुल से मुक्त कराने के लिए और स्वाधीनता के जीवन मूल्यों की स्थापना करने के लिए उन्हें अपने प्राणों को भी होम कर देने के लिए प्रेरित किया? साहिर लुधियानवी का एक मुक्तक उन बलिदानियों के मनोभाव को सशक्त अभिव्यक्ति देता है—

‘यह ज़र की जंग है न ज़मीनों की जंग है

यह जंग है बका के उसूलों के वास्ते

जो खून हमने नज़र दिया है ज़मीन को

वह खून है गुलाब के फूलों के वास्ते’

हमारे क्रांतिकारियों ने जो लड़ाई लड़ी वह न तो संपत्ति के लिए थी न ज़मीन के लिए। वह लड़ाई जीवन मूल्यों की स्थापना के लिए थी। प्रत्येक व्यक्ति को स्वाधीनता चाहिए और उस भूमि की सेवा करने का मुक्त अवसर। यही शक्तिशाली प्रेरणा है जिसके वशीभूत उन्होंने अपने खून से ज़मीन को सींचा। वे चाहते थे कि खून से रंग लेकर इस ज़मीन पर वे गुलाब के फूल खिलें जिनका नाम आज़ादी है।

वह संस्था और वह समाज सार्थक हैं जो अपने सदस्यों को राष्ट्र के प्रति अपने कर्तव्य का बोध कराते हैं, कर्तव्य संपादन के लिए प्रेरणा देते हैं और कर्तव्य पालन के लिए साधन भी जुटाते हैं। ऐसी संस्था और समाज ऐसे व्यक्तित्वों के धनी व्यक्तियों को रचते हैं जो देश की सेवा और राष्ट्र के निर्माण के लिए कृत संकल्पित होते हैं। ऐसी संस्था और ऐसे संगठन राष्ट्र के स्तर पर स्वयं ही अपनी पहचान बना लेते हैं। स्वाधीनता की वर्षगांठ पर हम सब इस दिशा में चिन्तन करेंगे तो आज का यह आयोजन सार्थक होगा।

.....